श्रमणचर्या विषयक कुन्दकुन्द की दृष्टि

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन
[जैन मन्दिर के पास, बिजनोर (उ०प्र०)]

दिगम्बर जैन आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उनके नाम का स्मरण किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द निर्दोष श्रमणचर्या के कट्टर समर्थक थे, असंयतपने के वे प्रबल विरोधी थे। दर्शन और आचार उभयपक्ष को उन्होंने समान रूप से स्वीकार किया था, उनके अनुसार आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती। पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।[1] पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का संवर करने वाला, तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतने वाला तथा दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण श्रमण संयत है।[2] जो जीव निर्ग्रन्थ रूप से दीक्षित होने के कारण संयम तथा तप संयुक्त हो वह भी यदि ऐहिक कार्यों सहित वर्तता है तो लौकिक है।[3] संयम और तपस्या में रत श्रमण का किसी के प्रति राग नहीं होना चाहिए। राग बन्धन का कारण है, चाहे वह भगवान् के प्रति ही क्यों न हो? कुन्दकुन्द की दृष्टि में संयम तथा तप संयुक्त होने पर भी नव पदार्थों और तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव है, सूत्रों के प्रति जिसकी रुचि है, उस जीव को निर्वाण दूर है।[4] निर्वृत्तिकाम के लिए वीतरागी[5] होना आवश्यक है।

साधु आगमचक्षु

साधु का नेत्र आगम है।[6] आगमहीन श्रमण आत्मा को तथा 'पर' को नहीं जानता। पदार्थों का नहीं जानने वाला भिक्षु कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है?[7] जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी

---

१. ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदवि अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥ —प्रवचनसार–२३७.

२. पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥ —प्र०सा०–२४०.

३. णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि॥ —वही, २६९.

४. सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स॥ —पंचास्तिकाय–१७०.

५. पंचास्तिकाय —१७२.

६. आगमचक्खू साहू……॥ —प्र०सा० २३४.

७. आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणन्तो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥—प्र०सा० २३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से उच्छ्वासमात्र में खपा देता है।[1] ज्ञानी की पर-पदार्थों के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति) नहीं होनी चाहिए। जिसके शरीरादि के प्रति परमाणु मात्र भी मूर्च्छा है, वह भले ही सर्वागम का धारी हो तथापि वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।[2] मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है, अतः वह निर्वाण को प्राप्त करता है।[3]

नग्नत्व : विमोक्षमार्ग

कुन्दकुन्द के अनुसार जिस मत में परिग्रह का अल्प अथवा बहुत ग्रहणपन कहा है, वह मत तथा उसकी श्रद्धा करने वाला पुरुष गर्हित है। जिन शासन में वस्त्रधारी मुक्ति को प्राप्त नहीं करता, चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो। नग्नपना मोक्ष का मार्ग है, शेष उन्मार्ग हैं।[4] मुनि यथाजात रूप है, वह अपने हाथ में तिल के तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता है, यदि थोड़ा-बहुत ग्रहण करता है तो निगोद में जाता है।[5] साधु के बाल के अग्रभाग की कोटिमात्र भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता है, वह अन्य का दिया हुआ भोजन भी एक स्थान पर खड़े होकर पाणिपात्र में ग्रहण करता है।[6] वस्त्ररहित अचेलक अवस्था और एक स्थान पर पाणिपात्र में भोजन के अतिरिक्त जितने मार्ग हैं, वे अमार्ग हैं।[7] जो अण्डज, कापसिज, वल्कल, चर्मज तथा रोमज-इन पाँच प्रकार के वस्त्रों में किसी वस्त्र को ग्रहण करते हैं, परिग्रह के ग्रहण करने वाले हैं, याचनाशील हैं तथा पापकर्म में रत हैं, वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।[8]

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में मुनिमार्ग में शिथिलाचार आ गया था। यही कारण है कि नग्नत्व का प्रबल समर्थन करते हुए भी जो केवल नग्नत्व का बाह्य प्रदर्शन करते हैं ऐसे श्रमणों की आचार्य कुन्दकुन्द ने तीव्र भर्त्सना की है—

१. कुछ मुनि ऐसे थे, जिन्होंने निर्ग्रन्थ होकर मूलगुण धारण तो कर लिये थे, किन्तु बाद में मूलगुणों का छेदन कर केवल बाह्य क्रियाकर्म में रत थे, कुन्दकुन्द ने उन्हें जिनलिंग का विराधक कहा है।[9]

२. कुछ मुनि रागी—परद्रव्य के प्रति आभ्यन्तरिक प्रीतिवान् थे, जिन-भावनारहित ऐसे मुनियों को भावपाहुड में द्रव्यनिर्ग्रन्थ कहा गया है। ऐसे साधु समाधि (धर्म तथा शुक्लध्यान) और बोधि (रत्नत्रय) को नहीं पा सकते हैं।[10]

---

१. जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भव सयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥—प्र०सा० २३८.

२. परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥—वही २३९ तथा पंचास्तिकाय—१६७.

३. पंचास्तिकाय—१६९.

४. ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेस उम्मग्गया सव्वे ॥—सूत्रपाहुड—२३.

५. सूत्रपाहुड—१८.

६. वही, १७.

७. वही, १०.

८. जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥—भावपाहुड—७९.

९. मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥—मोक्षपाहुड—९८.

१०. भावपाहुड—७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे व्यक्तियों के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम वे मिथ्यात्व का त्याग कर भाव की अपेक्षा नग्न हों, अनन्तर जिनाज्ञा के अनुसार द्रव्यलिंग धारण करें।[1] आभ्यन्तर भावदोषों से रहित जिनवर लिंग (बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग) प्रकट करना श्रेयस्कर है। भावमलिन जीव बाह्य परिग्रह के प्रति भी मलिनमति हो जाता है।[2] भावसहित मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चार आराधनाओं को पा लेता है। भावरहित मुनि दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।[3] जिन-भावनावर्जित नग्न दुःख पाता है, बोधि को प्राप्त नहीं करता है,[4] क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा तो सभी नग्न रहते हैं। नारकी तथा तिर्यंच तो नग्न रहते ही हैं, मनुष्यादिक भी कारण पाकर नग्न होते हैं, तथापि परिणाम अशुद्ध होने से भावश्रमणपने को नहीं प्राप्त करते हैं।[5] जिसके परिणाम अशुद्ध हैं, उसका बाह्य परिग्रह त्यागना अकार्यकारी है।[6] वस्त्रादि को त्यागकर तथा हाथ लम्बे कर कोई कोटाकोटि काल तप करे तो भी यदि भावरहित है तो उसकी सिद्धि नहीं है।[7] बाह्य परिग्रह का त्याग भाव की विशुद्धि के लिए किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है, उसका बाह्य त्याग विफल है।[8]

३. कुछ श्रमण दिगम्बर रूप जिनलिंग को ग्रहण कर उसे पापमोहितमति होकर उसे हास्यमात्र के समान गिनते थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने उन्हें नारदलिंगी कहा है।[9]

४. कुछ लिंगी बहुत मान कषाय से गर्वित होकर निरन्तर वाद करते थे, द्यूतक्रीड़ा करते थे, लिंगपाहुड में उन्हें नरकगामी बतलाया गया है।[10]

५. कुछ श्रमणलिंग धारणकर अब्रह्म का सेवन करते थे, कुन्दकुन्द ने उन्हें संसाररूपी कान्तार में भ्रमण करने वाला लिखा है।[11]

६. कुछ लिंगी दूसरे गृहस्थों के विवाह सम्बन्ध कराते थे। वे कृषि, वाणिज्य तथा जीवघात रूप कार्य को करते थे।[12]

७. कुछ चोरों, झूठ बोलने वालों तथा राजकार्य करने वालों में परस्पर युद्ध अथवा विवाद करा देते

---

१. भावपाहुड, ७३.
२. पयउहि जिणवरलिंगं आभिन्तरभावदोस परिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मलिनमई ॥—भावपाहुड ७०.
३. भावपाहुड ६६.
४. वही, ६८.
५. वही, ६७.
६. परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जई।
बाहिर गंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥—भावपाहुड ५.
७. वही, ४.
८. भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहस्से अभंतरगंथजुत्तस्स ॥—भावपाहुड ३.
९. जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगिम्मिय णारदो लिंगी ॥—लिंगपाहुड ३.
१०. लिंगपाहुड ६.
११. वही, ७.
१२. लिंगपाहुड—९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे तथा जिनमें अधिक कषाय उत्पन्न हो ऐसे तीव्रकर्म करते थे एवं यन्त्र (चौपड़, सतरंज वगैरह) से द्यूतक्रीड़ा करते थे।[१]

८. कुछ लिंग धारणकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा संयमरूप नित्यकर्मों का आचरण करते हुए मन में दुःखी होते थे, कुन्दकुन्द ने इन्हें तथा उपर्युक्त सभी को नरकगामी बतलाया है।[२]

९. कुछ श्रमणलिंग धारण कर नृत्य करते थे, गाना गाते थे, वाद्य बजाते थे,[3] परिग्रह का संग्रह करते थे अथवा उसमें ममत्व रखते थे, परिग्रह की रक्षा करते थे, रक्षा हेतु अत्यधिक प्रयत्न करते थे तथा उसके लिए निरन्तर आर्त्त-ध्यान करते थे,[४] भोजन में रसलोलुप होते हुए कन्दर्पादि में वर्तते थे तथा मायामयी आचरण करते थे।[५] कुछ श्रमण ईर्यापथ का पालन न कर दौड़ते हुए चलते थे, उछलते थे, गिर पड़ते थे, पृथ्वी को खोदते हुए चलते थे[६], धान्य, पृथ्वी तथा वृक्षों के समूह का छेदन करते थे,[७] कुछ दर्शन और ज्ञान से हीन श्रमण नित्य महिलावर्ग के प्रति स्वयं राग रखते थे तथा जो निर्दोष थे उन्हें दोष लगाते थे।[८] कुछ मुनियों की क्रिया और गुरुओं के प्रति विनय से रहित थे तथा प्रव्रज्याहीन गृहस्थ तथा शिष्यों के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते थे।[९] आचार्य कुन्दकुन्द ने इन सभी को तिर्यग्योनि कहा है, उनकी दृष्टि में वे वास्तव में श्रमण नहीं थे।

१०. आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में जो आहार के निमित्त दौड़ता है, आहार के निमित्त कलह कर उसे खाता है तथा आहार के निमित्त अन्य से ईर्ष्या करता है, वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।[१०] जो बिना दिया हुआ दान लेता है; परोक्ष में दूसरे की निन्दा करता है, जिनलिंग को धारण करता हुआ वह श्रमण चोर के समान है।[११]

११. जो महिलावर्ग में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शिक्षा दे; विश्वास उत्पन्न कर उनमें प्रवृत्ति करता है, वह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) से भी निकृष्ट है।[१२] जो व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है, नित्य उसकी स्तुति करता हुआ पिण्डपोषण करता है, वह अज्ञानी है, भावविनष्ट है, श्रमण नहीं है। अतः श्रमणधर्मी को जानना चाहिए कि श्रमणलिंग धर्मसहित होता है, लिंग धारण करने मात्र से ही धर्म की प्राप्ति नहीं हो जाती है। अतः भावधर्म को जानना चाहिए, केवल लिंगमात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।[१३] यदि लिंग रूप धारण कर भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र को उपधान रूप धारण न किया, केवल आर्त्तध्यान ही किया तो ऐसे व्यक्ति का अनन्त संसार होता है।

छेदविहीन श्रमण

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलता, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और एक बार आहार—ये श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं, उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक

---

१. चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥—लिंगपाहुड, १०.

२. वही, ११. ३. वही, ४. ४. वही, ५. ५. वही, १२. ६. वही, १५. ७. वही, १६.

८. वही, १७.

९. वही, १८.

१०. धावदिपिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरूप सूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥—वही, १३.

११. गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्ख दूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥—वही, १४.

१२. वही, २०. १३. वही, २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है।[1] यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जाने वाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिए, किन्तु यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत में व्यवहारकुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करके वे जैसा उपदेश दें, वह करना चाहिए।[2] श्रमण अधिवास (आत्मवास अथवा गुरुओं के सहवास में) बसते हुए या गुरुओं से भिन्न वास में बसते हुए सदा प्रतिबन्धों का परिहरण करता हुआ श्रामण्य में छेद-विहीन होकर विहार करे।[3] मुनि आहार, क्षपण (उपवास), आवास, विहार, उपधि (परिग्रह), श्रमण (अन्य मुनि) अथवा विकथा में प्रतिबन्ध (लीन होना) नहीं चाहता।

प्रयतचर्या

श्रमण के शयन, आसन, स्थान, गमन इत्यादि में जो अप्रयतचर्या है, वह सदा हिंसा मानी गई है।[4] जीव मरे या जिये, अप्रयत आचार वाले के (अन्तरंग) हिंसा निश्चित है। प्रयत (प्रयत्नशील, सावधान) के, समितिवान् के (बहिरंग) हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।[5] अप्रयत आचार वाला श्रमण छहों काय सम्बन्धी वध का करने वाला माना गया है। यदि श्रमण यत्नपूर्वक आचरण करे तो जल में कमल के समान निर्लेप कहा गया है।[6]

उपधि-त्याग

उपधि परिग्रह को कहते हैं। कायचेष्टापूर्वक जीव के मरने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता, किन्तु उपधि से अवश्य बन्ध होता है, इसलिए श्रमणों ने सर्व परिग्रह को छोड़ा है।[7] आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में उपधि का निषेध अन्तरंग छेद का ही निषेध है, क्योंकि यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षु के हृदय की विशुद्धि नहीं होती। जो भाव में अविशुद्ध है, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है?[8] उपधि के सद्भाव में भिक्षु के मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो, यह नहीं हो सकता। जो पर-द्रव्य में रत है, वह आत्मसाधना भी नहीं कर सकता।[9] जिस उपधि के ग्रहण-विसर्जन में सेवन करने वाले के छेद नहीं होता उस उपधियुक्त काल, क्षेत्र को जानकर श्रमण इस लोक में भले वर्ते,[10] भले ही अल्प हो तथापि जो अनिन्दित हो, असंयतजनों से अप्रार्थनीय हो और मूर्च्छादि की जननरहित हो ऐसी उपधि को श्रमण ग्रहण करे।[11] अपुनर्भवकामियों के लिए जिनवरेन्द्रों ने 'देह परिग्रह है', ऐसा कहकर देह में भी अप्रतिकर्मपना कहा है तब उसके अन्य परिग्रह कैसे हो सकता है?[12]

जिन-मार्ग में उपकरण

अजातरूप, गुरुवचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय जिनमार्ग में उपकरण कहे गए हैं।[13]

---

१. वदसमिदिंदियरोधो लोचांवस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवेरहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगोहोदि॥—प्रवचनसार–२०८–२०९.

२. वही, २११-१२. ३. वही, २१३. ४. वही, २१६.

५. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥—वही २१७.

६. वही, २१८. ७. वही, २१९.

८. ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो॥—प्रवचनसार–२२०.

९. प्रवचनसार, २२१.

१०. वही, २२२. ११. वही, २२३. १२. वही, २२४.

१३. उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं णिद्दिट्ठं॥—वही, २२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रतिषिद्धशरीरमात्र उपधि का पालन

श्रमण इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अप्रतिबद्ध होने से कषायरहित वर्तता हुआ मुक्ताहार विहारी होता है।[१] स्वयं अनशन स्वभाव वाला होने से (अपने आत्मा को अनशनस्वभाव वाला जानने से) और एषणाशून्य होने से मुक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही है।[२] मुक्ताहार एक बार, ऊनोदर, यथालब्ध, भिक्षाचरण से, दिन में, रस की अपेक्षा से रहित और मधु मांस रहित होता है।[३]

अल्पलेपी श्रमण

श्रमण को शरीर और संयम रूप मूल का जैसे छेद न हो वैसा आचरण करना चाहिए।[४] यदि श्रमण आहार, विहार, देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि को जानकर प्रवृत्ति करता है तो अल्पलेपी होता है।[५]

सम : श्रमण

यदि श्रमण अन्य द्रव्य का आश्रय करके अज्ञानी होता हुआ मोह, राग अथवा द्वेष करता है तो विविध कर्मों से बँधता है, यदि ऐसा नहीं करता तो नियम से विविध कर्मों को नष्ट कर करता है।[६] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, सुख-दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसे समता है, जिसे लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) और सुवर्ण समान है तथा जीवन-मरण के प्रति समता है, वह श्रमण है।[७]

निरास्रव और सास्रव श्रमण

प्रवचनसार में कुन्दकुन्द ने शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी दो प्रकार के श्रमण कहे हैं।[८] इनमें से शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, शेष सास्रव हैं। ऐसा होते हुए भी आचार्य कुन्दकुन्द ने शुभोपयोगी की क्रियाओं का निषेध नहीं किया है, बल्कि उनकी कौन-कौन-सी क्रियायें प्रशस्त हैं, इसका प्रवचनसार में विस्तृत रूप से वर्णन किया है।[९] अन्त में शुद्धोपयोगी की प्रशंसा में वे कहते हैं कि शुद्धपयोगी को श्रामण्य कहा है और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, शुद्ध ही सिद्ध होता है, उसे नमस्कार हो।[१०]

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्रमणों की निर्दोष चर्या पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके प्रवचनसार में श्रमणचर्या का जो यथार्थ चित्र प्राप्त होता है, वह अन्यत्र विरल है।

□

---

१. वही, २२६.
२. वही, २२७ (अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका).
३. वही, २२९.
४. वही, २३०.
५. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
   जाणित्ता ते समणो वह दि जदि अप्पलेवी सो ॥—वही २३१.
६. वही, २४३-४४.
७. समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
   समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥—वही २४१.
८. प्रवचनसार—२४५.
९. वही, २४५-६८.
१०. सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
   सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सुद्धो णमो तस्स ॥—वही, २७४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org